

गायत्री मंत्र के **हि** अक्षर की व्याख्या

# विवेक की कसौटी



● श्रीराम शर्मा आचार्य

# विवेक की कसौटी

गायत्री मंत्र का सोलहवाँ अक्षर 'हि' अन्धानुकरण को त्याग कर विवेक द्वारा प्रत्येक विषय का निर्णय करने की शिक्षा देता है—

हितमत्वाज्ञान केन्द्र स्वातंत्र्येत विचारयेत् ।

नान्धानुसरणं कुर्यात् कदाचित् कोऽपि कस्याचित् ॥

अर्थात्—“विवेक को ही कल्याण कारक समझकर हर बात पर स्वतंत्र रूप से विचार करे । अन्धानुकरण कभी, किसी दशा में न करे ।”

देश, काल, पात्र, अधिकार और परिस्थिति के अनुरूप मानव समाज के हित और सुविधा के लिए विविध प्रकार के शास्त्र, नियम, कानून और प्रथाओं का निर्माण और प्रचलन होता है । स्थितियों के परिवर्तन के साथ-साथ इन मान्यताओं एवं प्रथाओं में परिवर्तन होता रहता है । पिछले कुछ हजार वर्षों में ही अनेक प्रकार के धार्मिक विधान, रीति-रिवाज, प्रथा-परम्पराएँ तथा शासन पद्धतियाँ बदल चुकी हैं ।

शास्त्रों में अनेक स्थानों पर परस्पर विरोध दिखाई पड़ते हैं, इसका कारण यही है कि विभिन्न समयों में, विभिन्न कारणों से जो परिवर्तन रीति-नीति में होते रहे हैं, उनका शास्त्रों में उल्लेख है । लोग समझते हैं कि ये सब शास्त्र और सब नियम एक ही समय में प्रचलित हुए, पर बात इसके विपरीत है । भारतीय शास्त्र सदा प्रगतिशील रहे हैं और देश, काल परिस्थिति के अनुसार व्यवस्थाओं में परिवर्तन करते रहे हैं ।

कोई प्रथा, मान्यता या विचारधारा समय से पिछड़ गई हो तो परम्परा के मोह से उसका अन्धानुकरण नहीं करना चाहिए । वर्तमान स्थिति का ध्यान रखते हुए प्रथाओं में परिवर्तन अवश्य करना चाहिए । आज हमारे समाज में ऐसी अगणित प्रथाएँ हैं जिनको बदलने की बड़ी आवश्यकता है ।

हमको परमात्मा ने जो विवेक बुद्धि प्रदान की है उसका यही उद्देश्य है कि किसी भी पुस्तक, व्यक्ति या परम्परा की हम परीक्षा कर सकें । जो बात बुद्धि, विवेक, व्यवहार एवं औचित्य में खरी उतरे उसे ही ग्रहण करना चाहिए ।

बुद्धि के न्यायशील, निष्पक्ष, सतोगुणी, सहृदय, उदार एवं लोक हितैषी भाग को विवेक कहते हैं । इसी विवेक के आधार पर किया हुआ निर्णय कल्याणकारी होता है । इस आधार का अवलम्बन करने से यदि कोई भूलें भी होंगी तो उनका निवारण शीघ्र हो जायगा, क्योंकि विवेक में दुराग्रह नहीं होता ।

विवेक हमें हंस की तरह नीर-धीर को अलग करने की शिक्षा देता है । जहाँ बुराई और भलाई मिल रही हो, वहाँ बुराई को पृथक् करके अच्छाई को ही ग्रहण करना चाहिए । बुरे व्यक्तियों की भी अच्छाई का आदर करना चाहिए और अच्छों की भी बुराई को छोड़ देना चाहिए ।

## शास्त्रों का आदेश और विवेक

अनेक व्यक्ति प्रत्येक बात में शास्त्र का नाम ले देना ही बहुत बड़ी बात समझ बैठे हैं । कोई भी छोटी या बड़ी बात क्यों न हो वे उसके लिए शास्त्र का प्रमाण खोजते रहते हैं । यह प्रवृत्ति प्रशंसनीय नहीं है । न तो आजकल की प्रत्येक बात का प्रमाण शास्त्रों में मिल सकता है और न वह उपयोगी हो सकता है । हमारे अधिकांश काम तो विवेक द्वारा निर्णय किए जाने से ही चल सकते हैं ।

सिद्धान्तों का परीक्षण करना आवश्यक है । क्योंकि परस्पर विरोधी सिद्धान्तों का सर्वत्र अस्तित्व प्राप्त होता है । एक ओर जहाँ हिंसा को, बलिदान या कुर्बानी को धर्मों में समर्थन प्राप्त है, वहाँ ऐसे भी धर्म हैं जो जीवों की हत्या तो दूर उन्हें कष्ट पहुँचाना भी पाप समझते हैं । इसी प्रकार ईश्वर, परलोक, पुनर्जन्म, अहिंसा, पवित्र पुस्तक, अवतार, पूजा विधि, कर्मकाण्ड, देवता आदि विषयों के मतभेदों से धार्मिक क्षेत्र पटे पड़े हैं । सामाजिक क्षेत्र में वर्णभेद, स्त्री अधिकार, शिक्षा, रोटी, बेटी आदि प्रश्नों के सम्बन्ध में परस्पर विरोधी विचारों की प्रबलता है । राजनीति में प्रजातंत्र, साम्राज्यवाद, पूँजीवाद, अधिनायकवाद, समाजवाद आदि अनेकों प्रकार की परस्पर विरोधी विचारधाराएँ काम कर रही हैं । उपरोक्त सभी प्रकार की विचारधाराएँ आपस में खूब टकराती भी हैं । उनके समर्थक और विरोधी व्यक्तियों की संख्या भी कम नहीं है ।

जब सिद्धान्तों में इस प्रकार के घोर मतभेद विद्यमान हैं तो एक निष्पक्ष जिज्ञासु के लिए, सत्य शोधक के लिए उनका परीक्षण आवश्यक है । जब तक यह परख न लिया जाय कि किस पक्ष की बात सही है, किसकी गलत ? किसका कथन उचित है किसका अनुचित ? तब तक सत्य के समीप तक नहीं पहुँचा जा सकता । यदि परीक्षा और समीक्षा को आधार न बनाया जाय तो किसी प्रकार उपयोगी और अनुपयोगी की परख नहीं हो सकती ।

‘महाजनो ये न गतो स पन्था’ के अनुसार महाजनों का, बड़े आदमियों का, अनुसरण करने की प्रणाली प्रचलित है । साधारणतः लोग

सैद्धान्तिक बातों के सम्बन्ध में अधिक माथा-पच्ची करना पसन्द नहीं करते । दूसरे की नकल करना सुगम पड़ता है, निकटवर्ती बड़े आदमी जो कह दें उसे मान लेने में दिमाग पर जोर नहीं डालना पड़ता, अधिकांश जनता की मनोवृत्ति ऐसी ही होती है, परन्तु इस प्रणाली से सत्य-असत्य की समस्या सुलझती नहीं । क्योंकि जिन्हें हम महापुरुष-महाजन समझते हैं, संभव है वे भ्रान्त रहे हों और दूसरे लोग जिन्हें महापुरुष समझते हैं सम्भव है उन्हीं की बात ठीक हो । जबकि अनेक व्यक्ति एक प्रकार के विचार वाले महाजन की बात ठीक मानते हैं और उसी प्रकार अनेक व्यक्ति दूसरे 'महाजन' की बातों को महत्व देते हैं और दूसरे प्रकार के विचारों को मान्यता देते हैं, तब यह निर्णय कठिन हो जाता है कि इन दोनों के कथनों में किसका कथन उचित है और किसका अनुचित ?

महापुरुष दो प्रकार से अपने विचारों को व्यक्त करते हैं । ( १ ) लेखनी द्वारा ( २ ) वाणी द्वारा । वाणी द्वारा प्रकट किए हुए विचार क्षणस्थायी होते हैं इसलिए उन्हें चिरस्थायी करने के लिए लेखनीबद्ध किया जाता है । विचारों के व्यवस्थित रूप को लेखन-बही, ग्रन्थ या पुस्तक कहते हैं । जिन ग्रन्थों में धार्मिक या आध्यात्मिक विचार लिपिबद्ध होते हैं, उन्हें शास्त्र कहते हैं । शास्त्रों को लोग एक स्वतंत्र सत्ता का रूप देने लगे हैं । जैसे देवता की अपनी एक स्वतंत्र सत्ता समझी जाती है, वैसे ही शास्त्र भी स्वतंत्र सत्ता बनने लगे हैं । परन्तु बात ऐसी नहीं है । वे महाजनों के विचार ही तो हैं । जैसे 'महाजन' भ्रान्त हो सकते हैं, होते हैं, वैसे ही शास्त्र भी हो सकते हैं । एक शास्त्र द्वारा दूसरे शास्त्र के अभिमत का खण्डन करना यही प्रकट करता है कि एक समान श्रेणी के 'महाजनों' में प्राचीन काल में भी इसी प्रकार मतभेद रहता था जैसा कि आजकल अनेक समस्याओं के संबंध में हमारे नेता आपसी मतभेद रखते हैं ।

आज नेताओं के मतभेद में से छानकर हम वही बात ग्रहण करते हैं जो हमारी बुद्धि को अधिक उचित और आवश्यक जँचती है । किसी नेता के मत से सम्मति न रखते हुए भी उसके प्रति आदर भाव रहता है । इसी प्रकार स्वर्गीय महाजनों, महापुरुषों की लेखबद्ध विचार प्रणाली के सम्बन्ध में भी होना चाहिए । शास्त्र का अन्यानुकरण नहीं होना चाहिए वरन् उनके प्रकाश में सत्य को खोजना चाहिए । अन्यानुकरण कोई किया भी नहीं जा सकता । क्योंकि कभी-कभी एक ही शास्त्र में दो विरोधी आदर्श मिलते हैं । हमारे शास्त्रों में जीवित प्राणियों को मारकर विवेक की कसौटी )

अग्नि में होम देने का भी विधान है और जीवात्मा पर दया करने का भी । दोनों ही आदेश पवित्र धर्मग्रन्थों में मौजूद हैं । वे शास्त्र हमारे परम आदरणीय और मान्य हैं तो भी इनके आदेशों में से हम वही बात आचरण में लाते हैं जो बुद्धि संगत, उचित और समयानुकूल दिखाई पड़ती है ।

हिन्दू धर्म किसी व्यक्ति या उसके लेखबद्ध विचारों को अत्यधिक महत्व नहीं देता । चाहे वह व्यक्ति कितना ही बड़ा महापुरुष, ऋषि, महात्मा या ईश्वर ही क्यों न रहा हो । हिन्दू धर्म में सिद्धान्तों की समीक्षा और उसके बुद्धि संगत अंश को ही ग्रहण करने की परिपाटी का समर्थन किया गया है । किसी बड़े से बड़े व्यक्ति या ग्रन्थ से मतभेद रखने और उसके मन्तव्यों को स्वीकार करने न करने की उसमें पूर्ण सुविधा है । हाँ किसी की महानता को कम करने की आज्ञा नहीं है । महापुरुषों और पवित्र ग्रन्थों का समुचित आदर करते हुए भी उनकी सम्मति में से बुद्धि संगत अंश को ही ग्रहण करने का आदेश है । इसी आदेश के आधार पर प्राचीन समय में सच्चे जिज्ञासुओं ने सत्य की शोध की है और अब भी वही मार्ग अपनाता होता है ।

हिन्दू धर्म में भगवान् बुद्ध को ईश्वर का अवतार माना गया है । दश अवतारों में उनकी गणना है । इससे अधिक ऊँचा आदर, श्रद्धा, महत्व और क्या हो सकता है ? भगवान् बुद्ध भी हिन्दुओं के लिए वैसे ही पूज्य हैं जैसे अन्य अवतार । उनके महान् व्यक्तित्व, त्याग, तप, संयम, ज्ञान एवं साधन के आगे सहज ही हर व्यक्ति का मस्तक नत हो जाता है । उनके चरणों पर हृदय के अन्तःस्थल से निकली हुई गहरी श्रद्धा के फूल चढ़ा कर हम लोग अपने को धन्य मानते हैं । इतने पर भी भगवान् बुद्ध के विचारों का हिन्दू धर्म में प्रबल विरोध है । श्रीशंकराचार्य ने उनके मत का खण्डन करने का प्राण-प्रण प्रयत्न किया है । बौद्ध विचारों को, उनके सम्प्रदाय को स्वीकार करने के लिए कोई हिन्दू तैयार नहीं है, तो भी उनके व्यक्तित्व में भगवान् का दर्शन करता है ।

बात यह है कि व्यक्तित्व और सिद्धान्त दो भिन्न वस्तुएँ हैं । कोई सिद्धान्त इसलिए मान्य नहीं हो सकता कि उसे अमुक महापुरुष ने या अमुक ग्रन्थ ने प्रकाशित किया है । इसी प्रकार किसी घृणित व्यक्ति द्वारा कहे जाने या प्रतिपादन किए जाने से कोई सिद्धान्त अमान्य नहीं ठहरता । यदि कोई चोर यह कहे कि 'सत्य बोलना उचित है ।' तो उसे इसलिए अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि यह बात चोर ने



कहीं है । चोर का घृणित व्यक्तित्व भिन्न बात है और 'सत्य बोलने' का सिद्धान्त अलग चीज है । दोनों को मिला देने से तो बड़ा अनर्थ हो जायगा । चूँकि चोर ने सत्य बोलने के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है इसलिए यह सिद्धान्त अमान्य नहीं ठहराया जा सकता । इसी प्रकार कोई बड़ा महात्मा किसी अनुपयोगी बात का उपदेश करे तो उसे मान्य भी नहीं ठहराया जा सकता । कई अघोरी साधु अभ्रष्ट-भ्रष्टण करते हैं, यद्यपि उनकी तपश्चर्या ऊँची होती है तो भी उनके आचरण का कोई अनुकरण नहीं करता । निश्चय ही व्यक्तित्व अलग चीज है और सिद्धान्त अलग चीज है । महात्मा कार्लमार्क्स, ऐंजिल, लेनिन आदि का चरित्र बड़ा ऊँचा था, वे अपने विषय के उत्कट विद्वान भी थे । उनके उज्ज्वल व्यक्तित्व के लिए दुनियाँ सिर नवाती है, पर उनका अनीश्वरवादी मत मान्य नहीं किया जाता ।

प्राचीन समय में आज की भाँति ही परस्पर विरोधी मत प्रचलित थे । जैसे आज अनेकानेक विचारधाराओं के मतभेदों पर बारीक दृष्टि डाल कर उनमें से उपयोगी तत्व ग्रहण करने को विवश होना पड़ता है वही बात प्राचीन समय के सम्बन्ध में लागू होती है । आधुनिक महापुरुषों के विचारों से जीवन निर्माण कार्य में हमें मदद मिलती है, उसी प्रकार प्राचीन काल के स्वर्णीय महापुरुषों के लेखबद्ध विचारों से-धर्मग्रन्थों से लाभ उठाना चाहिए । परन्तु अन्य भक्त किसी का भी नहीं होना चाहिए । यह हो सकता है कि प्राचीन काल की और आज की स्थिति में अन्तर पड़ गया हो जिससे सब के सब विचार आज के लिए उपयोगी न रहे हों, यह भी हो सकता है कि उनमें किसी बात को अन्य दृष्टिकोण से देखा हो और आज उसे किसी अन्य दृष्टि से देखा जा रहा हो । एक समय समझा जाता था कि चातक स्वांति नक्षत्र का ही पानी पीता है, पर अब प्राणिशास्त्र के अन्वेषकों ने देखा है कि चातक रोज पानी पीता है । हंसों का मोती चुगना, या दूध पानी को अलग कर देना भी अब अविश्वस्त ठहरा दिया गया है । इसी प्रकार अन्य अनेक बातों में भी प्राचीनकाल के सिद्धान्तों में हमें परीक्षक बुद्धि से कोई मत निर्धारित करना पड़ता है । आधुनिक या प्राचीन होने से ही कोई सिद्धान्त मान्य या अमान्य नहीं ठहरता । शास्त्रकारों का भी यही मत है कि—“बालक के भी युक्तियुक्त वचनों को मानलें, परन्तु यदि युक्ति विरुद्ध हो तो ब्रह्मा की बात को तृण के समान त्याग दे ।”

## विवेक का निर्णय सर्वोपरि है

इसमें कोई सन्देह नहीं कि हमारे प्रधान शास्त्र आप्त-पुरुषों ने रचे थे और इसलिए उनके उपदेश और नियम अभी तक अधिकांश में उपयोगी और लाभदायक बने हुए हैं, पर एक तो समय के परिवर्तनों के कारण और दूसरे शास्त्रकारों में अनेक विषयों पर मतभेद होने के कारण यह आवश्यक हो जाता है कि हम शास्त्रों का आदेश समझने के साथ ही उनकी जाँच अपने विवेक से भी कर लें। ऐसा किए बिना अनेक बार धोखा हो जाने की संभावना रहती है।

बड़े-बड़े धर्म वक्ता आपने देखे होंगे और उनके व्याख्यान सुने होंगे ! सोचना चाहिए कि उनके शब्दों का अनुकरण उनका हृदय कहाँ तक करता है ? वे अपने अन्तःकरण के भावों को यदि स्पष्टतया प्रकट करने लगे तो आप निश्चय समझिए कि उनमें से अधिकांश लोगों को 'नास्तिक' कहना पड़ेगा। वे अपनी बुद्धि को चाहे जितनी भगतिन बनावें, वह उनसे यही कहेगी कि "किसी पुस्तक में लिखा है या किसी महापुरुष ने कहा है इसलिए मैं उस पर बिना विचार किए विश्वास क्यों कर करूँ ? दूसरे भले ही अन्यश्रद्धा के अधीन हो जायें, मैं कभी फँसने वाली नहीं।" इधर जाते हैं तो खाई और उधर जाते हैं तो अथाह समुद्र है। यदि धर्मोपदेशक या धर्मग्रन्थों का कहना मानें तो विवेक बुद्धि बाधा डालती है और न मानो तो लोग उपहास करते हैं, ऐसी अवस्था में लोग उदासीनता की शरण लेते हैं। जिन्हें आप धार्मिक कहते हैं, उनमें से अधिकांश लोग उदासीन अथवा तटस्थ हैं और इसका कारण धर्म पर यथार्थ विचार न करना ही है। धर्म की उदासीनता यदि ऐसी बढ़ती ही जायगी और धर्माचरण के लाभों से लोग अनभिज्ञ ही बने रहेंगे तो धर्म की पुरानी इमारत भौतिक-शास्त्रों के एक ही आघात से हवाई किले की तरह नष्ट भ्रष्ट हो जायगी। भौतिक शास्त्र जिस प्रकार विवेक बुद्धि की भट्टी से निकल कर अपनी सत्यता सिद्ध करते हैं। उसी प्रकार धर्मशास्त्रों को भी अपनी सत्यता सप्रमाण सिद्ध कर देनी चाहिए, ऐसा करने पर बुद्धि के तीव्र ताप से यदि धर्म तत्व गल-पच भी जाएँगे तो भी हमारी कोई हानि नहीं है। जिसे आज तक हम रत्न समझे हुए थे, वह पत्थर निकला। उसके नष्ट होने पर हमें दुःख क्या ? अन्य परम्परा से उसे सिर पर लादे रहना ही मूर्खता है। ऐसे सन्दिग्ध पत्थरों

की जहाँ तक हो सके शीघ्र हो, परीक्षा कर व्यवस्था से लगा देना ही अच्छा है । यदि धर्मतत्व सत्य होंगे तो वे भट्टी में कभी न जलेंगे, उल्टे वे ही असत्य पदार्थ भस्म हो जायेंगे, जिनके मिश्रण से सत्य धर्म में सन्देह होने लगा है । आग में तपाने से सोना मलीन नहीं किन्तु अधिक उज्ज्वल हो जाता है । विवेक बुद्धि की भट्टी में सत्य धर्म को डालने से उसके नष्ट होने का कोई भय नहीं है किन्तु ऐसा करने से उसकी योग्यता और भी बढ़ जायगी तथा उसका उच्च-स्थान सर्वदा बना रहेगा । पदार्थ विज्ञान और रसायन शास्त्रों की तरह धर्मशास्त्र भी प्रत्यक्ष प्रमाणों से सिद्ध करना चाहिए । यदि कर्मेन्द्रियों की अपेक्षा ज्ञानेन्द्रियों की योग्यता अधिक है तो जड़ ( भौतिक ) शास्त्र पर ज्ञान-प्रधान धर्मशास्त्र की विजय क्योंकर न होगी ? भौतिक शास्त्रों की सिद्धि तो इन्द्रियों के भरोसे है और धर्मशास्त्रों की सिद्धि अन्तरात्मा से सम्बन्ध रखती है, फिर क्या हमारा कर्तव्य नहीं है कि हम इसी आवश्यक और प्रधान शास्त्र की सिद्धि का पहले यत्न करें ?

जो यह कहते हैं कि धर्म को विवेक बुद्धि की तराजू पर तोलना मूर्खता है, वे निश्चय अदूरदर्शी हैं । मान लीजिए, एक ईसाई किसी मुसलमान से इस प्रकार झगड़ रहा है—“मेरा धर्म प्रत्यक्ष ईश्वर ने ईसा से कहा है ।” मुसलमान कहता है—“मेरा भी धर्म ईश्वर-प्रणीत है ।” इस पर ईसाई जोर देकर बोला—“तेरी धर्म पुस्तक में बहुत-सी झूठी बात लिखी हैं, तेरा धर्म कहता है कि हर एक मनुष्य को सीधे से नहीं तो जबरदस्ती मुसलमान बनाओ । यदि ऐसा करने में किसी की हत्या भी करनी पड़े तो पाप नहीं है । मुहम्मद के धर्म प्रचारक को स्वर्ग मिलेगा ।” मुसलमान ने कहा—“मेरे धर्म में जो कुछ लिखा है सो सब ठीक लिखा है ।” ईसाई ने उत्तर दिया—“ऐसी बातें मेरी धर्म पुस्तक में नहीं लिखी हैं, इससे वे झूठी हैं ।” इस प्रकार के प्रश्नोत्तर से दोनों को लाभ नहीं पहुँचता । एक-दूसरे की धर्म-पुस्तक को बुरी दृष्टि से देखते हैं । इससे वे निर्णय नहीं कर सकते कि किस पुस्तक के नीति तत्व श्रेष्ठ हैं । यदि विवेक बुद्धि को दोनों काम में लाएँ तो सत्य वस्तु का निर्णय करना कठिन न होगा । किसी धर्म पुस्तक पर विश्वास न होने पर भी उसमें लिखी हुई किसी खास बात को यदि विवेक बुद्धि स्वीकार कर लें तो तुरन्त समाधान हो जाता है । हम जिसे विश्वास कहते हैं वह भी विवेक बुद्धि से ही उत्पन्न हुआ है । परन्तु यहाँ पर यह प्रश्न उठता है कि दो विवेक की कसौटी )



महात्माओं के कहे हुए जुदे-जुदे या परस्पर विरुद्ध विधानों की परीक्षा करने की शक्ति हमारी विवेचक बुद्धि में है या नहीं ? यदि धर्मशास्त्र इन्द्रियातीत हो और उसकी मीमांसा करना हमारी शक्ति के बाहर का काम हो तो समझ लेना चाहिए कि पागलों की व्यर्थ बकबक या झूठी किस्सा कहानियों की पुस्तकों से धर्मशास्त्र का अधिक महत्व नहीं है । धर्म ही मानवी अन्तःकरण के विकास का फल है । अन्तःकरण के विकास के साथ-साथ धर्म मार्ग चल निकले है । धर्म का अस्तित्व पुस्तकों पर नहीं किन्तु मानवी अन्तःकरण पर अवलम्बित है । पुस्तकें तो मनुष्यों की मनोवृत्ति के दृश्यरूप मात्र हैं । पुस्तकों से मनुष्यों के अन्तःकरण नहीं बने हैं किन्तु मनुष्यों के अन्तःकरणों से पुस्तकों का आविर्भाव हुआ है । मानवी अन्तःकरणों का विकास 'कारण' है और ग्रन्थ रचना उसका 'कार्य' है । विवेचक बुद्धि की कसौटी पर रख कर यदि हम किसी कार्य को करेंगे तो उसमें धोखा नहीं उठाना पड़ेगा । धर्म को भी उस कसौटी पर परख लें तो उसमें हमारी हानि ही क्या है ?

## विवेक की सच्ची शक्ति है

मनुष्य जीवन को सफल बनाने और निर्वाह करने के लिए अनेक प्रकार की शक्तियों की आवश्यकता पड़ती है । शारीरिक बल, बुद्धि-बल, अर्थ-बल, समुदाय बल आदि अनेक साधनों से मिलकर मानव-जीवन की समस्याओं का समाधान हो पाता है । इन्हीं बलों के द्वारा शासन, उत्पादन और निर्माण कार्य होता है और सब प्रकार की सम्पत्तियाँ और सुविधायें प्राप्त होती हैं । विवेक द्वारा इन सब बलों का उचित रीति से संचालन होता है, जिससे ये हमारे लिए हितकारी सिद्ध हों ।

मस्तिष्क-बल और विचार बल में थोड़ा अन्तर है, उसे भी हमें समझ लेना चाहिए । मस्तिष्क बल का शरीर बल से संबंध है । विद्याध्ययन, व्यापारिक कुशलता, किसी कार्य व्यवस्था को निर्धारित प्रणाली के अनुसार चलाना, यह सब मस्तिष्क बल का काम है । वकील, डाक्टर, व्यापारी, कारीगर, कलाकार आदि का काम इसी आधार पर चलता है । यह बल शरीर की आवश्यकता और इच्छा की पूर्ति के कारण उत्पन्न होता और बढ़ता है । परन्तु विवेक बल आत्मा से संबंधित है, आध्यात्मिक आवश्यकता, इच्छा और प्रेरणा के अनुसार विवेक जागृत होता है । उचित अनुचित का भेदभाव यह विवेक ही करता है ।

मस्तिष्क बल शरीर जन्य होने के कारण उसकी नीति शारीरिक

हित साधन की होती है । इन्द्रिय सुखों को प्रधानता देता हुआ वह शरीर को समृद्ध एवं ऐश्वर्यवान बनाने का प्रयत्न करता है । अपने इस दृष्टिकोण के आगे वह उचित-अनुचित का भेदभाव करने में बहुत दूर तक नहीं जाता । जैसे भी हो वैसे भोग ऐश्वर्य इकट्ठा करने की धुन में प्रायः लोग कर्तव्य अकर्तव्य का ध्यान भूल जाते हैं, अनुचित रीति से भी स्वार्थ साधन करते हैं ।

विवेक इससे सर्वथा भिन्न है । देखने में 'विवेक' भी मस्तिष्क बल की ही श्रेणी का प्रतीत होता है, पर वस्तुतः वह उससे सर्वथा भिन्न है । विवेक आत्मा की पुकार है, आत्मिक स्वार्थ का वह पोषक है । अन्तःकरण में से सत्य, प्रेम, न्याय, त्याग, उदारता, सेवा एवं परमार्थ की जो भावनाएँ उठती हैं उनका वह पोषण करता है । सत् तत्त्वों के रमण में उसे आनन्द आता है । जैसे शरीर की भूख बुझाना मस्तिष्क बल का प्रयोजन होता है । वैसे ही आत्मा की भूख बुझाने में 'विवेक' प्रवृत्त रहता है । काम और अहंकार की पूर्ति में बलशाली लोग सुख अनुभव करते हैं पर उससे अनेकों गुना आनन्द-परमानन्द-विवेकवान् को प्राप्त होता है ।

बल द्वारा सम्पत्ति और भोग साम्प्रती उपार्जित होती है, परन्तु इस उपार्जन का तरीका इतना संकुचित और स्वार्थमय होता है कि उसकी धुन में मनुष्य धर्म-अधर्म की परवाह नहीं करता । इसलिए केवल बल द्वारा उत्पन्न की हुई सम्पत्ति कलह और क्लेश उत्पन्न करने वाली, दुःखदायक एवं परिणाम में विष के समान होती है । ऐसी सम्पत्ति का उपार्जन संसार में अशान्ति, युद्ध, शोषण, उत्पीड़न एवं प्रतिहिंसा की नारकीय अग्नि को प्रज्ज्वलित करने में धृत का काम करता है । ऐसी स्थिति से बचने के लिए विवेक बल से शरीर बल और मस्तिष्क बल पर नियंत्रण कायम करना पड़ता है ।

बल के ऊपर विवेक का नियंत्रण कायम रहना अत्यन्त आवश्यक है, बिना इसके संसार में सुख-शान्ति कायम नहीं रह सकती । बल अन्धा है और विवेक पंगा है । केवल बल की प्रधानत रहे तो उससे अनर्थ, अत्याचार एवं पाप की उत्पत्ति होगी, बल के अभिमान में मनुष्य अन्धा हो जाता है । विवेक नेत्र स्वरूप है, वह सत्य का प्रदर्शन करता है, किन्तु अकेला विवेक क्रिया रहित हो जाता है । अनेकों एकान्तवासी विवेकशील विद्वान् एक कोने में पड़े अपनी निरुपयोगिता सिद्ध करते रहते हैं । जब विवेक और बल दोनों का सामञ्जस्य हो जाता है, तो उसी प्रकार सब व्यवस्था ठीक हो जाती है जैसे एक बार अन्धे की पीठ पर विवेक की कसीटी )

पंथा आदमी बैठ गया था और वे आपसी सहयोग के कारण जलते हुए गैँव में से बचकर भाग गये थे । यदि दोनों सहयोग न करते तो दोनों का ही जल मरना निश्चित था ।

धर्मशास्त्रों ने बल के ऊपर विवेक का शासन स्थापित किया है । भौतिक जगत में भी यही प्रथा और परिपाटी कायम की गई है । कला-कौशल-बल, धन और शरीर बल इन तीनों बलों के प्रतिनिधि स्वरूप शूद्र, वैश्य एवं क्षत्रिय पर विवेक के प्रतिनिधि ब्राह्मण का शासन कायम किया गया है । हम प्राचीन इतिहास में देखते हैं कि हर एक राजा की शासन प्रणाली राजगुरु के आदेशानुसार चलती थी । तीनों वर्णों का पथ-प्रदर्शन ब्राह्मण करते थे ।

ऐतरेय ब्राह्मण ७-४-८ में एक श्रुति आती है—‘अर्थात्मोहक एष क्षत्रियस्य यत्पुरोहितः ।’ अर्थात्-क्षत्रिय की आधी आत्मा पुरोहित है । पुरोहित के अभाव में क्षत्रिय आधा आत्मा मात्र है । हम देखते हैं कि जन्मता के आन्दोलनों का समुचित लाभ प्राप्त होना नेताओं की सुयोग्यताओं पर निर्भर है । विवेकशील सुयोग्य नेताओं के नेतृत्व में अल्प जन बल से भी महत्वपूर्ण सफलता मिल जाती है । नेपोलियन के पास थोड़े से सिपाही थे, पर वह अपने बुद्धि कौशल द्वारा इस इस थोड़ी-सी शक्ति से ही महान सफलताएँ प्राप्त करने में सफल हुआ ।

जो विवेकवान व्यक्ति पथ प्रदर्शन एवं नेतृत्व कर सकने योग्य क्षमता रखते हैं उन पुरोहितों का उत्तरदायित्व महान है । ऐतरेय ब्राह्मण के ८-५-२ में ऐसे पुरोहितों को ‘राष्ट्र गोप’ अर्थात् राष्ट्र की रक्षा करने वाला कहा है । यदि देश समाज एवं व्यक्तियों का बल अनुचित दिशा में प्रवृत्त होता था तो उसका दोष पुरोहितों पर पड़ता था । ताण्ड्य ब्राह्मण के १३-३-१३ में एक कथा आती है कि इक्ष्वाकुवंशीय अरुण नामक एक राजा की अहंकारिता और उद्दण्डता सीमा से बाहर बढ़ गई । एक बार उस राजा की लापरवाही से रथ चलाने के कारण एक व्यक्ति को चोट लग गई । वह व्यक्ति अरुण के पुरोहित ‘वृक्ष’ के पास गया और उनकी भर्त्सना करते हुए कहा—आपने राजा को उचित शिक्षा नहीं दी है । आपने अपने गौरवास्पद पुरोहित पद के कर्तव्य का भलीभाँति पालन नहीं किया है । यदि किया होता तो राजा इस प्रकार का आचरण न करता । उस व्यक्ति के यह वचन सुनकर ‘वृक्ष’ बहुत लज्जित हुए । उनसे कुछ कहते न बन पड़ा, उन्होंने उस व्यक्ति को

अपने आश्रम में रखा और जब तक उसकी चोट अच्छी न हो गई तब तक उसकी चिकित्सा की ।

उपरोक्त कथा इस सत्य को प्रदर्शित करती है कि राज्य के प्रति पुरोहित का कितना उत्तरदायित्व है । बल को उचित दिशा में प्रयोजित करने की 'विवेक' की कितनी बड़ी जिम्मेदारी है । आज पुरोहित-तत्व और राज्य-तत्व दो प्रथक दिशाओं में चल रहे हैं, एक ने दूसरे का सहयोग कम कर दिया है । फलस्वरूप हमारी राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक और शारीरिक सुव्यवस्था नष्ट भ्रष्ट हो रही है । जब तक पुरोहित तत्व अपने उचित स्थान को ग्रहण न करेगा तब तक हमारे बाह्य और भीतरी जीवन में शान्ति भी स्थापित न होगी । विवेक का शरीर, समाज और राष्ट्र के ऊपर समुचित शासन होना चाहिए ।

जनता को अज्ञानान्धकार से छुड़ा कर ज्ञान के मार्ग पर अग्रसर करना पुरोहित का कार्य है । जो व्यक्ति ज्ञानवान है, जागृत है, पथ-प्रदर्शन करने की क्षमता रखते हैं उन पुरोहितों का कर्तव्य है कि जनता को जागृत करते रहें । सामाजिक, राष्ट्रीय, शारीरिक एवं आर्थिक खतरों से सजग रखना और कठिनाइयों को हल करने का मार्ग प्रदर्शित करना पुरोहित का प्रधान कर्तव्य है । अन्तःकरण में रहने वाले पुरोहित का कर्तव्य है कि वह विवेक द्वारा शक्तियों पर नियंत्रण करे और उन्हें कुमार्ग से बचा कर सन्मार्ग पर लगावे ।

हे पुरोहित ! जाग ! राष्ट्र के बारे में जागरूक रह । वेद पुरुष कहता है—'वयं राष्ट्रे जागृत्याम पुरोहिताः ।' पुरोहित राष्ट्र के सम्बन्ध में जागते रहें, सोवें नहीं । हमारे अन्तःकरण में बैठे हुए हे विवेक पुरोहित ! जागता रह ! ताकि हमारा बल 'क्षत्रिय' अनुचित दिशा में प्रवृत्त न हो । हमारे देश और जाति का नेतृत्व कर सकने की क्षमता रखने वाले सामाजिक शक्तियों का अनुचित आधार पर अपव्यय न हो । हे पुरोहित ! जाग, हमारे बल पर शासन कर, ताकि हम पुनः अपने अतीत गौरव की झोंकी कर सकें ।

## विवेक और स्वतंत्र-चिन्तन

आधुनिक संसार में स्वतंत्र चिन्तन का बड़ा महत्व है । प्रायः अन्य देशीय लोग भारतीयों पर अन्य विश्वास का दोष लगाया करते हैं, पर यह त्रुटि हमारे देश में पिछले कुछ सौ वर्षों के अन्धकार-काल में ही बड़ी है अन्यथा वैदिक साहित्य तो स्पष्ट रूप से स्वतंत्र चिन्तन का समर्थन करता है । क्योंकि बिना स्वतंत्र चिन्तन के विवेक जागृत नहीं होता और इसके बिना अनेक भागों में से अपने अनुकूल श्रेष्ठ मार्ग का बोध हो सकना संभव नहीं है । दूसरों का अनुगमन करते रहने में कुछ सुविधा अवश्य जान पड़ती है, पर उससे सच्ची उन्नति का मार्ग अवरुद्ध रहता है ।

जिस भौति आलसी, काहिल और विलासी वृत्ति के लोग अपने शरीर से पुरुषार्थ नहीं करना चाहते हैं—उससे कतराते हैं, उसी भौति अनेक लोग विचार और मन के जन्त में सदा परोपजीवी स्वभाव के होते हैं । वे चाहते हैं कि दूसरे हमें चिन्तन और मनन करके विचार-दिशा प्रदान करें और मैं चुपचाप होंके जामे वाले पशु की तरह केवल उस पशु का अनुसरण करता रहूँ । उस पशु के अच्छे और बुरे होने का उत्तरदायित्व मेरे ऊपर नहीं हो, कोई इसे बुरा होने का दोष मेरे शिर नहीं डाल सकता, पर ऐसा करते समझ उसे यह पता नहीं होता कि आखिर अनेकों पंथों में से किसी एक राह को अपने चलने के लिए चयन कर लेने में भी उसका एकमात्र उत्तरदायित्व हो जाता है । इसीलिए वे सभी भौति अपने को निर्दोष सिद्ध करने में सफल नहीं हो सकते । फिर भी ऐसे जनों का मानसिक और बौद्धिक आलस्य दूर नहीं हो पाता । ऐसे मनुष्यों की, उन भेड़ों से बहुत कुछ समता की जा सकती है, जो एक भेड़ के पीछे चलने की वृत्ति रखकर कुएँ में गिर सकती हैं । इस वृत्ति के मनुष्यों का व्यक्तित्व कभी निखर नहीं सकता । वह अपने जीवन में महान् कार्य करने के लिए प्रायः अयोग्य ही सिद्ध होते हैं ।

अध्ययन तो अनेकों व्यक्ति करते हैं, पर सभी विद्वान नहीं हो पाते, इसका कारण क्या है ? कितने व्यक्ति हजारों पुस्तक पढ़ डालते हैं, कितनी रट भी लेते हैं, फिर भी यदि उनका कुछ निश्चित विचार नहीं है, स्वतंत्र चिन्तन नहीं है तो वह उतना बड़ा विशाल फठन-अध्ययन भी उसके व्यक्तित्व को, उसकी सत्ता के महत्व को स्थापित करने में असमर्थ ही रहता है, जब कि एक स्वतंत्र चिंतक और मननशील व्यक्ति अपने

घोड़े से अध्ययन के सहारे समाज और राष्ट्र में अपना एक विशिष्ट व्यक्तित्व निर्मित कर लेता है ।

जिस भौति शरीर से उत्पन्न शिशुओं को मनुष्य अपनी सन्तान मान कर उसे स्नेह और प्यार देते हैं, उसके जीवन को विकसित, उत्कर्ष भरा बनाने के लिए यथासम्भव प्रयत्न करते हैं, उसी भौति यदि हम अपने स्वतंत्र विचारों को सम्मान और स्नेह दे सकें, तो वे साधारण जैसे प्रतीत होने वाले विचार ही हमारे व्यक्तित्व को एक ऐसे विशेष रूप में गढ़ डालते हैं, जिस भौति हम अपनी सन्तान को अपना रंभ-रूप प्रदान करते हैं ।

ऐसा नहीं करके यदि हमने केवल दूसरों के विचारों से अपने स्मृति भण्डार को भर कर उसे सदा दूसरों का ही बनाये रखा, अन्न की भौति खा और पचा कर उसे रक्त की भौति अपने विचार का अंग नहीं बना लिया, उसका उपयोग नहीं किया, व्यवहार में चरितार्थ नहीं किया तो हमारे वे सारे अध्ययन, हमारे लिए केवल बोझ ही बनते हैं, हमारी शक्ति को नष्ट ही करते हैं, पुष्ट नहीं करते । इसलिए यदि हमें केवल भारवाही पशु न बनकर मानव बनने की अभिलाषा है, तो जिस वस्तु की हमें जिज्ञासा हो, उसे दूसरों से सुनकर, जानकर एवं अध्ययन करके ही निश्चित न हो जायँ, वरन् वह ज्ञान यदि हमारे अन्तरात्मा को स्वीकार है, तो उसे अपने अंग-अंग में उतर जाने दें, अपने मन, वाणी और व्यवहार को उससे ओत-प्रोत हो जाने दें । इसी का नाम स्वतंत्र चिन्तन और मनन है अन्यथा वह सत्त्वहीन है—कागज का फूल मात्र है ।

जिस भौति माँ का दूध पीकर, शस्य श्यामला भूमि का अन्न खाकर, जल पीकर, प्रकृति देवी से अन्य खाद्य ग्रहण कर हमारे शरीर परिपुष्ट होते और बढ़ते हैं, उसी भौति प्रत्येक व्यक्ति के मूलगत विचारों की भी दशा है । वह अपने परिपोषण के लिए सभी दिशाओं से पोषकतत्व ग्रहण कर बढ़ता जाता है, पर उन तत्वों में ही अपने को खो नहीं देता । जिसने अपने को उसी में खोया, वह फिर कोई वृक्ष या व्यक्ति नहीं बनता, वरन् स्वयं भी खाद्य-खाद बन जाता है और उसे चूसकर-अनुयायी बनाकर दूसरे बढ़ते और विकास करते हैं ।

अपने विचारों को निश्चित और विशिष्ट स्वरूप देने के लिए उसे वाणी और लेखन के द्वारा प्रकट करते रहना चाहिए । पुनः अभिव्यक्ति वाणी और लेखन का अनुशीलन कर उसे परिमार्जित और परिष्कृत बनाते जाना चाहिए । ऐसा अभ्यास करते-करते वह विचार हमारे आचरण में विवेक की कसीटी )



संक्रमित होने लगते हैं और एक दिन हम स्वयं उस विचार के मूर्तिमान स्वरूप बन जाते हैं । यह है सही शुद्ध, चिन्तन-मनन का परिणाम ।

यह सृष्टि विविधात्मक रूप में ही अनन्त है । इसीलिए यहाँ की कोई भी रचना, सृष्टि, रूप और आकृति सम्पूर्णतया एक जैसी नहीं होती । इसलिए विवेकयुक्त व्यक्तित्व निर्माण करने के पहले हमें स्वयं अपना ही चिन्तन और मनन करना चाहिए । हम कैसा बनना चाहते हैं, यह भी गम्भीर चिन्तन और मनन के फलस्वरूप अपने अन्तर से ही उत्पन्न होता है, दूसरा इसे नहीं दे सकता ।

## विवेक से ही धर्म का निर्णय हो सकता है

‘धर्म’ शब्द बड़ा विस्तृत है । अन्य देशीय विद्वानों की बात छोड़ भी दें तो हमारे ही देश के प्राचीन और अर्वाचीन विद्वानों ने धर्म की बहु संख्यक व्याख्याएँ की हैं, पर अविद्या के कारण आजकल हमारे देश की सामान्य जनता में यह भ्रम फैल गया है कि ‘शास्त्र’ नाम की जितनी भी पुस्तकें हैं, उनमें जो कुछ भी कहा गया है, लिखा गया है अथवा वर्तमान समय में छाप दिया गया है, वह सब कुछ धर्म है, पर जैसा हम पहले बता चुके हैं, शास्त्रों की रचना भिन्न-भिन्न कालों में परिस्थिति के अनुसार होती रहती है, इसलिए उनमें स्वभावतः अनेक प्रकार की परस्पर विरोधी जान पड़ने वाली बातें पाई जाती हैं । इसके सिवा अनेक विदेशी लोगों ने पिछले डेढ़-दो हजार वर्षों के भीतर गुप्त रूप से अपने मतलब की बातें प्राचीन शास्त्रों में मिला दी हैं । मनुष्यो ! इस प्रवृत्ति को समझकर हमारे पूर्वजों ने स्पष्ट कह दिया था कि धर्माधर्म का निर्णय करने के लिए शास्त्रों के प्रमाणों के साथ ही अपनी विवेक बुद्धि से भी काम लेना अनिवार्य है और जहाँ शास्त्र की बातें विवेक बुद्धि से स्पष्ट असंगत जान पड़ें वहाँ उन्हें अस्वीकार कर देना चाहिए । मनुष्य की आत्मा, परमात्मा का अंश है और वही सर्वत्र सब पदार्थों और कार्यों में समाया हुआ है । इसलिए मनुष्य यदि आत्मा को निर्मल बनाकर उसकी शक्ति अर्थात् विवेक द्वारा विचार करे तो कोई कारण नहीं कि वह सत्य धर्म का निर्णय न कर सके । उपनिषदों में कहा गया है—

ब्रह्म.....सर्वमावृत्तय तिष्ठति ।

ब्रह्मेव सर्वाणि नामानि सर्वाणि

रूपाणि सर्वाणि कर्माणि विभर्ति ।

सोऽयमात्मा सर्वानुभूः ।

अर्थात्—“सब पदार्थों को घेर कर, लपेटकर, ब्रह्म बैठा है । सब नाम, सब काम, सब रूप उसी एक ब्रह्म के ही “मैं” हैं । वही आत्मा “मैं” सब अनुभवों का अनुभव करने वाला है ।”

पुराणों में भी कहा है—

स सर्वधीवृत्तयनुभूतसर्वः ।

श्रद्धत्स्वाननुभूतोऽर्थो न मनः स्पष्टमर्हति ।

—भागवत

यस्मिन् देशे काले निमित्ते च यो धर्मोऽनुष्ठीयते ।

स एव देशकालनिमित्तांतरेष्वधर्मो भवति ॥

—शांकर-शारीरिक भाष्य, ३, १, २५

अर्थात्—“अधिकारी के भेद से धर्म में भेद होता है । देश, काल, निमित्त के भेद से धर्म में भेद होता है । जिस स्थान पर खड़े होकर देखते हैं, उस स्थान के बदलने से दर्शन अर्थात् दृश्य का रूप बदल जाता है ।” जो ही एक देश, काल, पात्र, निमित्त और कर्म के विशेष से एक आदमी के लिए धर्म है, वही दूसरे आदमी के लिए दूसरे देश, काल, पात्रता, निमित्त और कर्म के विशेष से अधर्म होता है । केवल एक-दो ग्रन्थ पढ़ लेने से धर्म का पता नहीं लगता, अच्छी अवस्था का धर्म दूसरा और विषम अवस्था का धर्म दूसरा होता है ।

बच्चों को मिट्टी का खिलौना ही अच्छा लगेगा, उनको रेखा गणित और बीजगणित पढ़ाने का यत्न करना व्यर्थ है ।

यही दशा मर्तों की, सम्प्रदायों की, पन्थों की है ।

‘मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना ।

भिन्नरुचिर्हि लोकः ।’ इत्यादि

अब बचपन बीत जायगा, तब मिट्टी के खिलौने आप ही छूट जायेंगे और दूसरे प्रकार के खिलौनों में मन लग जायगा ।

अप्सु देवा मनुष्याणां दिवि देवा मनीषिणाम् ।

बालानां काष्ठ लोष्ठेषु बुधस्यात्मनि देवता ।

उत्तमा सहजाऽवस्था, द्वितीया ध्यान धारणा,

तृतीया प्रतिमा पूजा, ह्येमयात्रा चतुर्थिका ।

अर्थात्—“बालकों के देवता काष्ठ पत्थर में, साधारण मनुष्यों के जल में, मनीषी विद्वानों के आकाश में हैं, बुध का-बोध वाले का,

ज्ञानवान का देव आत्मा ही है । सहज अवस्था, अर्थात् सब दृश्य संसार को ही परमात्मा का स्वरूप जानना, यह उत्तम कोटि है, विशेष ध्यान धारणा करना, यह उससे नीची दूसरी कोटि है, प्रतिमाओं की पूजा तीसरी कोटि है, होम और यात्रा चौथी कोटि है ।

बाल-बुद्धि जीव, जिनकी बुद्धि सर्वथा बहिर्मुख है, जो इन्द्रियग्राह्य आकार ही का ग्रहण कर सकते हैं, वे अपने मन का सन्तोष काष्ठ-लोष्ठ की प्रतिमा से ही करें । यह बहिर्मुख माया रोग मनुष्य का ऐसा बड़ा हुआ है कि मुसलमान धर्म में भी, यद्यपि वह अपने को बड़ा भारी बुतशिकन यानी मूर्ति तोड़ने वाला कहता है, लोग देवालियों को तोड़कर मकबरे और कब्र बनाते और पूजते हैं । किसी उर्दू शायर ने ही कहा है—

जिन्दगाहें तोड़ करके मुर्दगाहें भर दिया ।

इसी बहिर्मुख माया का वर्णन उपनिषदों ने किया है ।

परांघ्रि खानि व्यतृणत् स्वययंभूः

तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन् ।

कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्ष-

दावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ॥

—कठोपनिषद्

अर्थात्-स्वयंभू ने ब्रह्मा ( श्रृष्ट युन्मुख, रजः प्रधान महत्तत्त्व, बुद्धितत्त्व ), ने सब इन्द्रियों को, छिद्रों को, बाहर की ओर खोला, छेद करके निकाला । इसलिए जीव बाहर की वस्तु देखता है, भीतर अपने को नहीं देखेता । कोई-कोई धीर, विरक्त जीव, संसार की दौड़ धूप, आवागमन और मृत्यु से थककर विश्राम और अमरत्व को चाहकर, आँख भीतर फेरता है और प्रत्यगात्मा को देखता है ।

पर हाँ, उन बालकों के जो रखवारे वृद्ध बुजुर्ग हैं, उनको यह फिक्र रखनी चाहिए कि बीच-बीच में मिट्टी के खिलौनों के खेल के साथ-साथ कुछ अक्षर ज्ञान भी दिखाते जाएँ, कुछ पुस्तकों का शौक पैदा कराने का यत्न भी करते रहें । यह न चाहें कि लड़के सदा खिलौनों में ही खुश रहें, मूर्ख बने रहें, पोथी-पत्रा कभी न छुएँ और हम उनको हमेशा बेवकूफ रखकर अपना गुलाम बनाये रहें ।

और भी यदि ये वृद्ध, सात्विक बुद्धि वाले और लोक हितैषी हों तो इस खिलौना पूजा को भी बहुत शिक्षाप्रद, उत्तम, सात्विक भाववर्द्धक,

कला वर्द्धक, शिल्प वर्द्धक, शास्त्र प्रवर्तक बना सकते हैं । सुन्दर मन्दिरों से ग्राम की, नगर की, शोभा सौन्दर्य बढ़ा सकते हैं और उनसे पाठशाला, चिकित्सालय, पुष्पवाटिका, उद्यान, चित्रशाला, संगीतादि विविध-कलागृह, सार्वजनिक सभामण्डप, सम्मेलन-स्थान, व्याख्यानशाला, आदि का काम ले सकते हैं । योग साधनादि में भी ये मन्दिर सीढ़ी का काम दे सकते हैं । क्योंकि

**तच्छ्रुयतामनाधारा धारणा नोपपद्यते ।**

अर्थात्—ध्यान धारणा प्रायः किसी मूर्त विषय के बिना नहीं सघती ।

और भी तरह-तरह के उत्तम वैधानिक शास्त्रानुकूल, आधिदैविक शास्त्र सम्मत, आधिभौतिक शास्त्र सम्मत, काम लिए जा सकते हैं । यह याद रखते हुए और यह समझते हुए कि सारा साकार जगत् ही उस जगदात्मा का रूप है, जनता को क्रमशः इस मूर्त-रूप की ओर ले जाना उचित ही है और इस दृष्टि से मूर्ति-पूजा की निन्दा करना अनुचित ही है ।

दूसरे दर्जे की बुद्धि के लिए जलमय, तीर्थ, सरिता, सरोवर आदि की अनुज्ञा दी गई है । अदृष्ट फल वे हैं, जिनसे सूक्ष्म शरीर मनोमय अथवा विज्ञानमय कोष, अर्थात् अन्तःकरण, मन, बुद्धि, अहंकार, का संस्कार हो । दृष्ट फल वे हैं, जिनका प्रभाव स्थूल-शरीर पर पड़ता है । इन तीर्थों में भ्रमण करने से, देशाटन के जो शिष्टाप्रद, बुद्धि की उदारता बढ़ाने वाले, संकोच हटाने वाले, फल हो सकते हैं वे होने चाहिए । यदि तीर्थ-रक्षक और पुजारी और भिखमो लोग 'कौआरोड़' करके यात्रियों की जान आपत्ति में न डाल दें और तीर्थों के जलों में फल, फूल, पत्ता, कच्चा और पक्का अन्न डलवा-डलवाकर पानी को सड़ाकर हानिकर न कर डालें । स्वयं पुराणों ने कहा है ।

**न ह्यम्भयानि तीर्थानि, न देवा मृच्छिलामयाः ।**

**ते पुनत्युरुकालेन, दर्शनादेव साधवाः ।**

**तेषामेव निवासेन, देशास्तीर्थोभवन्ति वै ॥**

—भागवत

अर्थात्—“जल में तीर्थ नहीं बनते, न देवता मिट्टी और पत्थर से बनते हैं । उनकी उपासना करने से बहुत काल में मन की शुद्धि होती है, पर सच्चे साधुओं के तो दर्शन और सत्संग से ही चित्त सद्यः शुद्ध हो जाता है ।” तीर्थ-स्थानों में जो सच्चे साधु तपस्वी विद्वान् बसते हैं, वे

ही तीर्थ के तीर्थकर हैं, तीर्थों को तीर्थ बनाने वाले हैं । जो शोक के पार तारे वह तीर्थ ( तरति शोकं येन सहायेन स तीर्थः ) सप्त पवित्र पुरी आदि तीर्थ इसी हेतु से तीर्थ थीं, कि वे उत्तम विद्यापीठ का काम देती थीं । वहाँ की हवा में भक्ति, विरक्ति, ज्ञान भरा रहता था, क्योंकि इनके बताने और जगाने वाले साधु, तपस्वी, विद्वान्, पण्डित, बहुतायत से वहाँ वास करते थे । जैसे आजकल की यूनिवर्सिटियों में किसी एक में एक ही शास्त्र की, किसी दूसरे में दूसरे शास्त्र की विद्या पढ़ाई, चर्चा, हवा आधिक रहती है । किसी शहर में किसी विशेष व्यापार की, किसी में कल-कारखानों की बहुतायतें रहती हैं और वहाँ जाने से उसके सम्बन्ध की विद्या सहज ही में आ जाती है । इसी तरह 'काश्यां मरणान् मुक्तिः' काशी में मरने से मुक्ति होती है, क्योंकि वहाँ आत्मज्ञान सहज में साधुओं से मिलना चाहिए, चारों ओर उसकी चर्चा होने से मानो हवा में भर रहा है और "ऋते ज्ञानाम् न मुक्तिः", बिना ज्ञान के छुटकारा नहीं, किसी प्रकार को भी गुलामी और बन्धन से, सामाजिक से, अथवा राजनीतिक से अथवा सांसारिक से, पर आज कल इन पवित्र पुरियों की जो दुर्गति है, वह प्रत्यक्ष है । जो मनुष्य 'काश्यां मरणान् मुक्तिः' के अक्षरों को ही पकड़े रहते हैं और उसके हेतु को नहीं पकड़ते और आत्म-ज्ञान का संचय नहीं करते, उनके लिए मुक्ति की आशा नहीं है ।

तीसरे दर्जे की बुद्धि के लिए, "दिवि देवाः" सूर्य, चन्द्र, बृहस्पति आदि प्रत्यक्ष देवता हैं । इनकी उपासना गणित-फलित्वात्मक, अद्भुत ज्योतिष-शास्त्र की उपासना, 'मिटियोरोलोजी' 'आस्ट्रोनोमी' आदि है । इससे जो कुछ काल-ज्ञान में, कृषि में, समुद्र यात्रादि में, सहायता मिल सके वह सब इनकी उपासना का दृष्ट-फल है, पर सहायता के स्थान में जो विघ्न ज्योतिष-शास्त्र के कुप्रयोग से हो रहे हैं, वह सबको विदित है ।

चौथी और अन्तिम कोटि "बुधस्य आत्मनि देवता" जिसको यह विचार उत्पन्न हो गया है कि यह देवता है या नहीं है, यह पुस्तक मानने योग्य है या नहीं है, यह ऋषिवत् या अवतारवत् या रसूल पैगम्बरवत् या मसीहवत् गुरुवर मानने योग्य है या नहीं है, यह धर्म मानने योग्य है या नहीं है, यह छोड़ने योग्य है या ओढ़ने योग्य है, यह शास्त्र है या अशास्त्र है, यह वेद है या अवेद है, इसका अर्थ यह है या दूसरा है, अन्ततोगत्वा कोई ईश्वर है या नहीं है और है तो क्या है ? उसका स्वरूप क्या है-इस सबका अन्तिम निर्णेतृ मैं ही हूँ, "मैं" ही है, आत्मा ही

है—जिसको यह विचार दृढ़ हो जाता है, उसके लिए 'बुधस्य आत्मनि देवता', अर्थात् बुधका, बुद्धिमान का, देव स्वयं आत्मा ही है। परम ईश्वर, ईश्वरों का ईश्वर, 'मैं' ही है। इस काष्ठा को जो पहुँचा है उसके लिए गुरेश्वराचार्य ने बृहदारण्यक वार्तिक में कहा है—“एतां काष्ठामवष्टभ्य सर्वा ब्राह्मण उच्यते।” जो ही जीव इस काष्ठा को पहुँचा है वह ब्राह्मण है, और वही ब्राह्मण है, अथवा ब्रह्मस्वरूप है।

उसके लिए “काश्यां मरणान् मुक्ति” की आवश्यकता नहीं, किन्तु, भावना यदि भवेत् फलदात्री मामकं नगरमेव हि काशी। व्यापकोऽपि यदि वा परमात्मा तारकं निमिह नोपदिशेन नः॥

अर्थात् भावना ही यदि फल देने वाली है, तो जिस स्थान पर मैं हूँ, वही काशी है। यदि परमात्मा व्यापक है, तो यहीं पर तारक यन्त्र मन्त्र का उपदेश कर सकता है। ऐसे ही मनुष्य के लिए याज्ञवल्क्य स्मृति में कहा है कि वह स्वयं नयी आवश्यकता पड़ने पर नया धर्म बना सकता है।

चत्वारो वेदधर्मज्ञः पर्यत्, त्रैविध्यं मेव वा।

सा ब्रूते यः स धर्मः स्यादेको वाऽऽध्यात्मवित्तमः॥

अर्थात्—“वेद पर, ज्ञान-समूह पर, प्रतिष्ठापित जो धर्म है, उसके जानने वाले चार मनुष्यों की मण्डली अथवा अंगोपांग सहित तीन वेदों को अच्छी तरह जानने वालों की समिति अथवा एक अध्यात्म-वित्तम, ब्रह्मविद्वारिष्ठ, तत्त्वतः ब्रह्मज्ञान के हृदय में प्रविष्ट, यानी मनुष्य, जो निर्णय कर दे, कि यह धर्म होना चाहिए, वही धर्म माना जाय।”

## विवेक और मानसिक दासता

विवेक की हीनता के कारण मनुष्य परमुखापेक्षी और पराश्रित हो जाता है। वह अपने को सब प्रकार से गया बीता समझ लेता है। उसके हृदय में प्रायः यही विचार आया करता है कि “जो कुछ हमारे पूर्वज कर चुके हैं, जो कुछ हमारे समाज के ‘बड़े आदमी’ कर रहे हैं, उससे ज्यादा हम क्या कर सकते हैं। हमको तो यथाशक्ति उनका ही अनुकरण करना चाहिए।” ऐसी मनोवृत्ति से हृदय दर्जे की मानसिक निर्बलता उत्पन्न होती है और उन्नति का मार्ग रुक जाता है।

मानसिक दासता सब प्रकार की दासताओं की जननी है। जब शरीर का चालक मन अशक्त है तो शरीर का अणु-अणु अपाहिज है। उसकी शक्ति को प्रकाशित होने का कोई विशिष्ट मार्ग नहीं, उसका कोई



निश्चित उद्देश्य नहीं । वह एक ऐसी नीका है जो जिधर चाहे बहक सकती है ।

समस्त मानव जीवन की प्रवर्तक 'भावनाएँ' होती हैं । इन भावों का अनुसरण हमारी मूल प्रवृत्तियाँ किया करती हैं । भावनाएँ मन में विनिर्मित होती हैं । उनका उच्चाशय या निम्न स्वरूप मन की प्रेरक शक्तियों पर अधिष्ठित है ।

मन के अपाहिज हो जाने पर आत्मा जड़ से गया बीता हो जाता है । उसकी महत्वाकांक्षा का निरन्तर क्षय होता रहता है । आशाओं पर तुषारापात होता है । ऐसा व्यक्ति नहीं जानता कि वह क्या है ? इसका वास्तविक स्वरूप क्या है ? उसे किस दिशा की ओर अग्रसर होना है ? दास्ता की कुलिश-कठोर बेड़ियों में जकड़ा हुआ मन स्वयं अपना ही नहीं, अपने स्वामी का भी सर्वनाश कर देता है ।

हम दूसरों को डरपोक देखते हैं तो समझ लेते हैं कि ऐसे ही हमें भी होना चाहिए । ऐसा ही मनुष्य का वास्तविक स्वरूप है । हम अपने चारों ओर ऐसा ही कुत्सित वातावरण देखते हैं । हम विगत कटु अनुभवों को अपेक्षाकृत अधिक महत्व देते हैं । हम स्वयं विचार शक्ति का उपयोग न कर विचार की गति को पंगु कर डालते हैं । हम स्वयं निज मानसिक शक्ति का उपयोग न कर दूसरे के उदाहरण, प्रणाली पर निज जीवन को अधिष्ठित कर देते हैं । हम सोचते हैं कि जो हमारे पूर्वज कर गये हैं, जो हमारे नेतागण चरितार्थ कर रहे हैं जो कुछ हमारे अन्य प्राताओं ने अर्जन किया है, वही हमारा भी साध्य है । उसी को हमें प्राप्त करना चाहिए । हम अपने वातावरण से दास्ता ही दास्ता एकत्रित करते हैं । मन में कूड़ा कर्कट एकत्रित करते रहते हैं, कालान्तर में मन का वातावरण कलुषित हो जाता है । हमारा समाज, कभी हमारा गृह, कभी हमारा वातावरण या जीविका उपार्जन का कार्य मानसिक दास्ता का सहायक बन जाता है तथा हमें दीन दुनियाँ कहीं का भी नहीं छोड़ता । कृत्रिम साधनों द्वारा मन का विकास रुक जाना ही मानसिक दास्ता है ।

हम मानसिक दास्तत्व को एक मनोवैज्ञानिक रोग मान सकते हैं । अनेक प्रकार के भ्रम, अभ्रम-कल्पनाएँ, निराशा, निरुत्साह इत्यादि मनःक्षेत्र में आत्महीनता की जटिल ग्रन्थि उत्पन्न कर देते हैं । कालान्तर में ये ग्रन्थियाँ अत्यन्त शक्तिशाली हो उठती हैं । फिर दिन प्रतिदिन के विविध कार्यों में इन्हीं की प्रतिक्रिया चलती रहती है । हमारे डरपोकपन

के कार्य प्रायः इसी ग्रन्थि के परिणाम स्वरूप होते हैं । अनेक मन गढ़न्त विरुद्ध संस्कार स्मृति पटल पर अंकित रहते हैं । पुरानी असफलताएँ, अध्रिय अनुभव, अव्यक्त मन से चेतन मन में प्रवेश करती हैं तथा प्रत्येक अवसर पर अपनी रोशनी फेंका करती हैं । जैसे एक बारीक कपड़े से प्रकाश की किरणें हलकी-हलकी छन कर बाहर आती हैं उसी प्रकार आत्महीनता तथा दासत्व की ग्रन्थियों की झलक प्रायः प्रत्येक कार्य में प्रकट होकर उसे अपूर्ण बनाया करती है । कधी-कधी मनुष्य की शारीरिक निर्बलता, कमजोरियाँ, व्याधियाँ, अंग-प्रत्यों की छोटाई-मोटाई, सामाजिक परिस्थितियाँ, निर्धनता, देश की कमजोरियाँ सब मानसिक दासत्व की अभिवृद्धि किया करते हैं । भारत में मानसिक दासत्व का कारण अन्धकार मय वातावरण तथा पाशविक वृत्तियों का अनाचार है । समय-समय पर देश में होने वाले आन्दोलनों से मानसिक दासत्व में भी न्यूनता या अभिवृद्धि का क्रम चला करता है ।

वर्तमान रूप में व्यवहृत हमारा धर्म मानसिक दासता का मित्र बना हुआ है । मनुष्य को मन प्रत्येक तत्त्व में समझने, मनन करने के लिए प्रदान किया गया है । वह सोच-समझ कर प्रत्येक वस्तु ग्रहण करें, यों ही प्रत्येक तत्त्व को अन्धों की तरह ग्रहण न करे, यही इष्ट है । धर्म के आधुनिक रूप ने मानव मन को अत्यन्त संकुचित, डरपोक बना दिया है । किताब, कलमा, जादू, टोना, तीर्थ न जाने कितनी आफतें मानव मन पर सवार हैं । वह धार्मिक श्रृंखलाओं के कारण इधर से उधर, टस से मस नहीं हो पाता । हजार आदमी उसके ऊपर उँगलियों उठाने को प्रस्तुत हैं । अतः बेचारे को अन्य व्यक्तियों का अनुकरण करना होता है । अनुकरण अबोध के लिए उपयुक्त हो सकता है किन्तु विवेकशील को उस जंजीर में बाँधने से उसके मनक्षेत्र में प्रबल उत्तेजना उत्पन्न होती है । इस प्रकार मन की गुलामी उत्पन्न होती है ।

जब मन उत्तम तथा निकृष्ट में विवेक न कर सके तो उसे "दास" कहेंगे, उसे तो स्वच्छन्दतापूर्वक निज कर्म करना चाहिए । यदि मनुष्य का मन स्वतंत्र रूप से विवेक की शक्ति नहीं रखता, तो वह किसी अन्य शक्ति के वश में अवश्य रहेगा । स्वयं जब मन का इच्छा शक्ति पर प्रभुत्व नहीं तो उस पर किसी विजातीय शक्ति का प्रभुत्व अवश्य रहेगा ।

यदि एक छोटे पीछे को एक शीशी में बन्द कर दें और केवल 'ऊपर से खुला रहे, तो वह क्रमशः ऊपर ही को बढ़ेगा । उसे इधर-उधर विवेक की कसौटी )

फैलने की गुञ्जायश नहीं है क्योंकि उसे संकीर्ण वातावरण में रख दिया है । इसी प्रकार यदि आप कूपमण्डूक बने रहेंगे, तो मन विकसित न हो सकेगा । वह एकांगी रहेगा तथा उसमें सहृदयता, दयालुता, सत्यवादिता, निर्भीकता या निर्णय शक्ति का विकास न हो सकेगा । मन को छोटे दायरे में बन्द रखने से मनुष्य सब वैभव होते हुए भी अन्तर्वेदना से पीड़ित रहता है । उसमें आत्म सम्मान का प्रादुर्भाव नहीं होता ।

मन को स्वाधीनता दीजिए । उसे चारों ओर फैलने का अवसर दीजिए । मानसिक स्वतंत्रता से ही मनुष्य में दैवी गुणों का प्रादुर्भाव होता है । मन को स्वच्छन्दतापूर्वक विचारने की, मनन करने की स्वतंत्रता दीजिए तो वह आपका सच्चा मित्र, सलाहकार बन जायगा । वह निकृष्ट भोगेच्छाओं में परितृप्त न होगा । वह अन्य व्यक्तियों की कृपा पर आश्रित न रहेगा । मानसिक स्वतंत्रता प्राप्त करते ही मनुष्य का संसार के प्रति दृष्टिकोण बदल जाता है । मानसिक स्वच्छन्दता के बिना मनुष्य प्रसन्नचित्त नहीं रह सकता ।

कल्पना कीजिए कि आपको बात-बात पर अन्य व्यक्तियों के इशारों पर नर्तन करना पड़ता है, जहाँ आप तनिक-सी मौलिकता प्रकट करने का प्रयत्न करते हैं कि आपको तीखी डोंट पड़ती है । ऐसी स्थिति में मन परिपक्व नहीं होता । उसकी समस्त मौलिकता नष्ट-ग्रष्ट हो जाती है । वह मन मनुष्य का शत्रु तथा उन्नति में बाधक बन जाता है ।

मानसिक परिपुष्टि का मुख्य साधन है-शिक्षा । जिस मस्तिष्क को शिक्षा नहीं मिलती वह थोड़ा-बहुत अनुभव से बढ़कर रुक जाता है । शिक्षा ऐसी हो जिससे मन की सभी शक्तियों-तर्क शक्ति, तुलना शक्ति, स्मरण शक्ति, लेखन शक्ति, कल्पना शक्ति का थोड़ा-बहुत विकास हो सके । इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है कि हम अपनी इच्छानुसार इन सभी शक्तियों को बढ़ा सकते हैं । आवश्यकता है केवल ठीक प्रकार की शिक्षा की । शिक्षा ऐसी मिले कि मनुष्य का विकास उत्तरोत्तर होता रहे, वह रुढ़ियों का गुलाम न बन जावे, अन्यथा मानसिक दासता का फल भयंकर होगा ।

दूसरा साधन है अनुकूल संगति तथा परिस्थितियाँ । जिन परिस्थितियों में मनुष्य निवास करता है प्रायः वे ही मानसिक शक्तियाँ उसमें जाग्रत होती हैं । जिस मनुष्य के परिवार में कवि अधिक मात्रा में होते हैं, वह प्रायः कवि होता है । हरे पत्तों में निवास करने वाला कीड़ा

हरित वर्ण का ही हो जाता है । अतः पुस्तकों की संगत में रहिए, विद्वानों से तर्क कीजिए, शंकाओं का समाधान कीजिए ।

तीसरा साधन है उपयुक्त मानसिक व्यायाम । जिस प्रकार नियमित व्यायाम से हमारा शरीर विकसित होता है, उसी प्रकार मानसिक व्यायाम ( अभ्यास ) द्वारा मन में भिन्न-भिन्न शक्तियों का प्रादुर्भाव होता है । एकाग्रता का अभ्यास अपूर्व शक्ति प्रदान करता है । खेद है कि अनेक व्यक्ति निज जीवन में एकाग्रता को वह महत्व प्रदान नहीं करते जो वास्तव में उन्हें करना चाहिए । एकाग्रता से काय शक्ति बहुत बढ़ जाती है । यदि दृढ़ एकाग्रता रखने वाले व्यक्ति से तुम्हारा साक्षात्कार हो तो तुम्हें अनुभव होगा कि वह पर्वत सदृश्य अचल होकर कार्य करता है । तुम उसे छेड़ो चाहे कुछ करो किन्तु वह विचलित न हो सकेगा । इसी का नाम दृढ़ एकाग्रता है । इसी से मन वश में आ सकता है । मन अभ्यास का दास है । जैसे-जैसे आपका अभ्यास बढ़ेगा, वैसे-वैसे एकाग्रता की वृद्धि होगी । चौथा साधन है-अन्तर्दृष्टि । तुम समाज की रूढ़ियों तथा बिरादरी के गुलाम न बनो । धर्म की रूढ़ि और धर्माचार्यों की लकीरों से पस्त हिम्मत न हो जाओ वरन् अपनी मौलिकता की वृद्धि करो । न कोई मुल्ला, न कोई पण्डित, न राज्य का फैलाया हुआ कुसंस्कारों का जाल, तुम्हें दैवी उच्च भूमिका से हटा सकता है । यदि तुम मन की उच्च भूमिका में निवास करते रहोगे, तो तुम में यथार्थ बल प्रकट होगा ।

विश्व में सब से अधिक महान कार्य मन की शक्तियों को बढ़ाना है । तुम्हारा अभ्यन्तर प्रदेश अनन्त और अपार है । अभ्यास तथा मन्नन द्वारा तुम अपनी नैसर्गिक शक्ति को प्राप्त कर सकते हो ।

स्मरण रहे, तुम्हें अपना विकास करना है । अल्पज्ञ, निःशक्त नहीं बने रहना है । तुम्हें उचित है कि निज सामर्थ्यों में विश्वास एवं श्रद्धा रखना सीखो । सदा-सर्वदा आन्तरिक मन की भावनाओं के प्रति लक्ष दिये रहो । यह मत सोचो कि हमें तो इतना ही विकसित होना है, वरन् यह सोचो कि अब अभिवृद्धि का वास्तविक समय आया है । अपनी विशालता, अतुल सामर्थ्य का चिंतन करो । मानसिक दासता से छुटकारा पाओ और विवेक से काम लेकर संसार में विजयी योद्धा की तरह जीवन व्यतीत करो ।

## विवेक हीनता का दुष्परिणाम

जब हमारे सामने अनेक समस्याएँ, विभिन्न प्रकार के विचार होते हैं, तब यह निर्णय करना कठिन हो जाता है कि इनमें कौन हितकारी है और कौन हित के विपरीत, कौन सही है और कौन गलत है। ऐसी अवस्था में विवेक ही हमारा मार्ग-दर्शन कर सकता है। जिसमें विवेक की कमी होती है, वे नाजुक क्षणों में अपना सही मार्ग निश्चित नहीं कर पाते और गलत रास्ते पर चल पड़ते हैं, जिसके कारण उन्हें पतन और असफलता के गर्त में गिरकर लांछित और अपमानित होना पड़ता है। जिनमें विवेक शक्ति का प्राधान्य होता है वे दूरदर्शी होते हैं और इसीलिए उपयुक्त मार्ग को अपनाते हैं। यही शक्ति साधारण व्यक्ति को नेता, महात्मा और पुण्य पुरुष बनाती है।

विवेक प्रत्येक व्यक्ति में जन्मजात रूप से वर्तमान रहता है। इस पर हमारे संचित और क्रियमाण कर्मों की छाया का प्रभाव पड़ता है, जिसके कारण वह किसी में कम और किसी में अधिक दिखाई देता है। दूसरे शब्दों में इस प्रकार भी कह सकते हैं कि हम अपने संचित एवं क्रियमाण कर्मों से इतने अधिक प्रभावित रहते हैं कि विवेक की पुकार हमें ठीक से सुनाई नहीं पड़ती। यही विवेक हमारी वास्तविक मानवता का प्रतीक और सद्बुद्धि का द्योतक है। इसके अभाव में मनुष्य पशु या उससे भी गया बीता बन जाता है और स्वयं के लिए, समाज के लिए, राष्ट्र के लिए और अन्ततः सृष्टि के लिए एक भार एवं अभिशाप हो जाता है।

मानव होने के नाते हमारा यह प्राथमिक कर्तव्य है कि हम इस विवेक को जाग्रत करें और उसकी आवाज को सुनना सीखें। संसार में छोटे से छोटे और बड़े से बड़े सभी मनुष्य इसकी कृपा के लिए लालायित रहते हैं।

इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि मनुष्य के लिए अपने विवेक की सदैव रक्षा करना परमावश्यक है। किसी स्वार्थ के लिए भी विवेक की हत्या करने से उसका कुफल भोगना पड़ता है। चाहे वैयक्तिक विषय हो और चाहे सामाजिक, चाहे राजनीतिक समस्या हो अथवा धार्मिक; हमको विवेक युक्त निर्णय का सदैव ध्यान रखना चाहिए। लकीर के फकीर बन जाने या “बाबा वाक्यं प्रमाणं” मान लेने से मनुष्य की बुद्धि कुण्ठित हो जाती है और वह गलत मार्ग पर चलने लग जाता है। इसलिए प्राचीन या नवीन कोई भी विषय हो हमको उसका निर्णय उचित-अनुचित, सत्य-असत्य का पूर्ण विचार करके ही करना चाहिए।